हिंदी चलचित्र में विकलांगता चित्रण
शैक्षिक निहितार्थ

सुधीर कुमार तिवारी*
दीपा मेहता**

सिनेमा संप्रेषण का एक सशक्त माध्यम है। विकलांगता के प्रति समाज में स्वस्थ संदेश देने के लिए अनेक माध्यमों में साहित्य और फ़िल्में मुख्य भूमिका निभाती हैं। सिनेमा के द्वारा विकलांगता, विकलांगता के प्रकारों, विकलांगता की पहचान, रोकथाम, विकलांगों के समावेशीकरण जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दों को समाज के हर स्तर के व्यक्तियों तक संप्रेषित किया जा सकता है, जागरूक किया जा सकता है। भारतीय फ़िल्म जगत में कई प्रकार की विकलांगता, जैसे–डिस्लेक्सिया, श्रवणबाधिता (Hearing Impairment), मानसिक मन्दता (Mental Retardation), दृष्टिबाधिता (Visual Impairment), अस्थि विकलांगता (Orthopaedical Disability), बहुविकलांगता (Multiple disability), पैरालाइसिस (Paralysis), प्रोजेरिया, locomotor disability, learning disablility को दिखाया गया है। हर्ष की बात है कि भारतीय फ़िल्म जगत का विकलांगता के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है, परंतु जिस रफ़्तार की ज़रूरत है, वह नहीं है। विकलांगता को बैसाखियों से जोड़कर देखने संबंधी पूर्वाग्रह को तोड़ने का प्रयास चलचित्र द्वारा दिखाई देता है। वैश्वीकरण के इस दौर में विकलांगता के रूप को नयी दृष्टि से देखने और समझने की ज़रूरत है।

* *एम.एड. विशिष्ट*, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर,* शिक्षा संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Chapter 9.indd 75 4/28/2017 9:50:28 AM

विकलांगता एक ऐसा शब्द है जो किसी भी व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास में अवरोध पैदा करता है। विकलांगता शरीर की एक ऐसी अवस्था है जिस स्थिति में शरीर भौतिक एवं मानसिक रूप से पूरी तरह या आंशिक रूप से अविकसित रहता है अथवा किसी दुर्घटनावश विकृत हो जाता है – विकलांगता की यह सामान्य अवधारणा है। विकलांगता का संबंध अक्सर व्हीलचेयर, बैसाखी, शारीरिक अपंगता से जोड़कर देखा जाता है, परंतु हम विकलांगता का व्यापक दृष्टि से अवलोकन करें तो पाते हैं कि विकलांग तो वे भी हैं जो अपने सामने होते हुए अन्याय को देखते हैं, सहन करते हैं और मौन स्वीकृति प्रदान करते हैं।

वैश्वीकरण के इस दौर में विकलांगता के रूप को नयी दृष्टि से देखने और समझने की ज़रूरत है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाज को और विशिष्ट बालकों, दोनों को ही एक-दूसरे की ज़रूरत है और विद्वानों का मानना है कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। परिवर्तन ही जीवन है और आज परिवर्तन ने हमारी ज़रूरतों का रूप ले लिया है। इस परिवर्तन के प्रादुर्भाव के बीच सिनेमा जगत अपनी पैठ हमारे बीच बना चुका है। भाषा का प्रसार, संस्कृति, समाज... आदि का सचित्र चित्रण एवं प्रसार हम सिनेमा के माध्यम से देख सकते हैं।

सिनेमा संप्रेषण का एक सशक्त माध्यम है। सिनेमा के द्वारा समाज में, लोगों में विकलांगता, विकलांगता के प्रकारों, विकलांगता की पहचान, रोकथाम, विकलांगों के समावेशीकरण जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दों को समाज के हर स्तर के व्यक्तियों तक संप्रेषित किया जा सकता है। यह हर्ष की बात है कि भारतीय फ़िल्म जगत का विकलांगता के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है परंतु जिस रफ़्तार की ज़रूरत है, वह नहीं है।

इक्कसवीं शताब्दी के पूर्व हमारे समाज में विकलांगता को कभी भी सामान्य जीवन से जोड़कर नहीं देखा गया। भीख माँगना, गाना गाना उनका जन्म सिद्ध अधिकार माना जाता था।

भारत में विकलांगता के किरदार को केंद्र में रखते हुए पहली सफ़ल फ़िल्म 1964 में *दोस्ती* के रूप में हमारे सम्मुख अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है। जिसके पात्र रामू और मोहन के साथ समाज का यथार्थ निरूपित किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में आयी फ़िल्म *उपकार* देशभक्ति की भावना से तो ज़रूर ओत-प्रोत थी, लेकिन इसका दूसरा संदेश कहीं दबकर रह गया। फ़िल्म का अंत सुखान्त है जो भारतीय फ़िल्म जगत की परंपरा का निर्वाह मात्र है।

इक्कसवीं शताब्दी के पूर्व विकलांग किरदार को केंद्र में रखते हुए बहुत ही कम फ़िल्में बनीं। एक प्रयास गुलज़ार की फ़िल्म *कोशिश* (1972) द्वारा किया गया। फ़िल्म में हरि (संजीव कुमार) और आरती (जया भादुड़ी) ने एक गूँगे दंपत्ति का रोल बड़ी कुशलता से निभाया है। लोगों ने फ़िल्म की सराहना तो ज़रूर की लेकिन आम जनता के मन में ज़ुल्म करने वाले कनु (असरानी) के प्रति गुस्सा अधिक रहा, हरि और आरती की हिम्मत के प्रति शाबाशी कम।

विकलांग नायक को केंद्र में रखते हुए सई परान्जपये (Sai Paranjpye) ने 1980 में *स्पर्श* फ़िल्म बनायी। फ़िल्म के माध्यम से यह संदेश दिया गया कि नेत्रहीनता व्यक्ति के रोज़मर्रा के जीवन को ही नहीं, बल्कि उसकी मानसिकता पर भी गहरा प्रभाव डालती है।

स्पर्श और *कोशिश* जैसी विकलांगता पर आधारित सशक्त फ़िल्मों ने विकलांग व्यक्ति को गवैया और भिखारी की श्रेणी से तो ऊपर उठाया परन्तु सामान्य व्यक्ति के ऊपर नहीं स्थापित किया। हिंदी सिनेमा में इस तरह का कोई भी ज़िक्र 1986 के पूर्व नहीं मिलता। विकलांग व्यक्ति को सितारा बनाने का जोखिम टी. रामा राव ने उठाया और सुधा चन्दन के वास्तविक जीवन पर आधारित 1986 में *नाचे मयूरी* फिल्म बनायी। फ़िल्म में दिखाया गया है कि विकलांग व्यक्ति भी सितारा बन सकता है और वह भी एक स्त्री, लेकिन ठोस धरातलीय बदलाव 21वीं शताब्दी के साथ-साथ उपस्थित होते हैं।

इक्कसवीं शताब्दी के विकलांगता पर आधारित फ़िल्म जगत को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

1. जन्मजात विकलांगता पर आधारित फ़िल्में
2. दुर्घटना के कारण विकलांगता पर आधारित फ़िल्में
3. मनोरंजन के आधार पर विकलांगता पर आधारित फ़िल्में

जन्मजात विकलांगता पर आधारित फ़िल्में– *तेरा मेरा साथ रहे, ब्लैक, इकबाल, तारे ज़मीन पर, पा, माई नेम इज़ खान, गुज़ारिश, बर्फ़ी, षमिताभ*...। इन फिल्मों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनमें जन्मजात विकलांग पात्रों को गवैया और भीख माँगने की परंपरा से निकाल कर उसको सामान्य व्यक्ति की तरह ही दिखाने का प्रयास किया गया है और इस सराहनीय प्रयास में वो कहीं-कहीं सामान्य व्यक्तियों से आगे भी निकल गए हैं।

दुर्घटना के कारण विकलांगता पर आधारित फ़िल्में– *कर्मा, जिगर, कोयला, हिंदुस्तान की कसम, आँखें, वादा, लफ़ंगे परिन्दे, खूबसूरत*...। इन फ़िल्मों के आधार पर कहा जा सकता है कि दुर्घटना होने पर या किसी अन्य कारण से विकलांगता व्यक्ति पर हावी नहीं हो पाती और न ही वो अपनी किस्मत को कोसते हुए अवसाद की स्थिति में रहता है, बल्कि अपनी विकलांगता से संघर्ष करते हुए, उस पर विजय प्राप्त कर अपने आप को सामान्य श्रेणी में सफ़लतापूर्वक स्थापित करने का प्रयास करता है।

मनोरंजन के आधार पर विकलांगता पर आधारित फ़िल्में– *हम है कमाल के, क्या कूल हैं हम, फिर हेरा फेरी, चुप चुपके, गोलमाल, गोलमाल रिटर्न्स, गोलमाल-3, ऑल द बेस्ट*...। इन फ़िल्मों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि विकलांगता को मज़ाक का आधार बनाया गया है, बल्कि हम यह कह सकते हैं कि विकलांगता के आधार पर हमारा मनोरंजन किया गया है जो सिनेमा जगत का पहला उद्देश्य है और साथ ही साथ विकलांग व्यक्तियों के

प्रति हमारे दृष्टिकोण में बदलाव करने का सार्थक प्रयास भी किया गया है।

इक्कसवीं शताब्दी में विकलांगता आधारित चलचित्र– सिनेमा के माध्यम से विकलांगता को समझाने में संजय लीला भंसाली का नाम मुख्य है जिनकी तीन फ़िल्मों में विकलांगता के तीन अलग-अलग विषयों को शानदार ढंग से प्रस्तुत किया गया है–

खामोशी– श्रवणबाधिता (Hearing Impairment), 9 अगस्त 1996

ब्लैक – बहुविकलांगता (Multiple Disability), 4 फ़रवरी 2005

गुज़ारिश– पैरालाइसिस (Paralysis) 19 नवंबर 2010

संजय लीला भंसाली द्वारा निर्मित *ब्लैक* की बात करें तो *ब्लैक* 1962 में बनी हॉलीवुड की श्वेत श्याम फ़िल्म द *मिरेकल वर्कर* पर आधारित है। इन दोनो फ़िल्मों की कहानी हेलेन केलर के जीवन पर आधारित है। सुनने व देखने की शक्ति न होने के बावजूद भी हेलेन केलर ने स्नातक की डिग्री प्राप्त की और इस प्रकार वो पूरे विश्व के लिए प्रेरणा स्त्रोत बन गयीं।

ब्लैक फ़िल्म एक संवेदनशील फ़िल्म है जो अंधेरे से प्रकाश की ओर बढ़ने की कहानी को चरितार्थ करती है। जब समाज विकलांग व्यक्ति के लिए शिक्षा की सोच को ठीक से पचा नहीं पा रहा था, उस स्थिति में भंसाली जी ने बहुविकलांगता से संबंधित पूर्वाग्रह को खारिज कर दिया और शिक्षा के आधार पर सिद्ध कर दिया कि इस संसार में कुछ भी असंभव नहीं है।

ब्लैक फ़िल्म अधिकांशत: फ़्लैशबैक पर आधारित है। *ब्लैक* मिशेल की उस अँधेरी दुनिया की कहानी है जो अपनी विवशता के अँधेरे में घुट रही है और उसकी इस घुटन ने उसे उग्र और ज़िद्दी बना दिया है। मिशेल मैथनेली की अंतिम आशा के रूप में मि. सहाय आते हैं और अपनी ज़िद के बल पर मिशेल के जीवन में शिक्षा का एक नया अध्याय लिखते हैं। मिशेल भी शुरू करती है अपने जीवन के नये अध्याय को, मि. सहाय के स्पर्श और इशारों के साथ। मि. सहाय मिशेल को असंभव शब्द के सिवा सब कुछ सिखाते हैं जिसे मिशेल भी अच्छी तरह समझती है।

आँख न होने के बावजूद भी मिशेल सपनों को देख सकती है क्योंकि वो जानती है कि सपने आँखों से नहीं, मन से देखे जाते हैं और अपनी आँखों की रोशनी के अभाव में भी सपने देखती है– स्नातक का सपना, अल्ज़ाइमर रोग से पीड़ित अपने शिक्षक को पुन: ठीक करने का सपना। वो अपने सपनों को मरने नहीं देती, बल्कि अपनी लगन व साहस से पूरा करती है क्योंकि वो मि. सहाय के शब्दों का अर्थ समझती है–''सबसे खतरनाक होता है, सपनो का मर जाना''

नागेश कुकुनूर द्वारा निर्देशित फ़िल्म *इकबाल* एक ऐसे युवा की कहानी को प्रस्तुत करती है जो सुनने और बोलने में असमर्थ है। फ़िल्म की खूबी यह है कि फ़िल्म का नाम भी वही है जो नायक का नाम है। भारतीय फ़िल्म दृष्टि से विकलांगता को लेकर *बर्फ़ी* के अलावा शायद ही ऐसा कार्य हुआ हो।

इकबाल के सपनों के साथ ही फ़िल्म का प्रारंभ होता है और अपने जुनून से उसे पा भी लेता

है। प्रतिभा होने के बावजूद भी उसकी विकलांगता उसके उद्देश्य में बाधा पहुँचाती है, परंतु वो अपने सपनों को मरने नहीं देता और सपनों को पूरा करने का इरादा ही इकबाल की उम्मीदों को ज़िन्दा रखता है। *इकबाल* फ़िल्म का नायक इकबाल अपने लिए स्वयं ही सांकेतिक भाषा (Sign language) विकसित करता है और इस प्रक्रिया में उसके परिवार के सदस्य सक्रिय भूमिका निभाते हैं। इकबाल अपनी मेहनत से ओष्ठ रीडिंग भी सीख लेता है।

क्रिकेट इकबाल का जुनून है और इस जुनून को उसकी बहन अपने प्रयास से कोलिपो क्रिकेट अकादमी तक पहुँचाती है। परंतु जल्द ही इकबाल संस्था में राजनीति का शिकार हो जाता है। परिणामस्वरूप उसे वहाँ से निकाल दिया जाता है। समाज से उपेक्षित इकबाल की उम्मीदें और कोशिशें ही उसे मोहित कोच से मिलवाती हैं। मंज़िल की राह में कई मुश्किलों के बावजूद भी इकबाल अपनी हर चुनौतियों का हल निकाल लेता है। फ़िल्म के अंत में पहले रणजी टीम फ़िर इंडिया टीम में अपना स्थान पक्का कर इकबाल, फ़िल्म के दर्शकों के मन में, हौसलों के प्रति नयी सकारात्मक सोच विकसित करता है जो कि फ़िल्म का उद्देश्य है।

ब्लैक और *इकबाल* फ़िल्म में एक समानता है; जो है– लक्ष्य के प्रति जुनून। एक तरफ़ स्नातक होने की ज़िद तो दूसरी तरफ़ भारतीय टीम में जगह पा जाने की ज़िद। ज़िद एक जुनून है अपने लक्ष्य तक पहुँचने का। फ़िल्म के माध्यम से दिखाया गया है कि ज़िद और हिम्मत के बल पर कुछ भी किया जा सकता है।

बच्चों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण की सत्यता पर आधारित फ़िल्म है आमिर खान द्वारा निर्देशित *तारे ज़मीन पर* (Every Child is Special)। फ़िल्म का प्रारंभ ईशान की असफ़लता से होता है, लेकिन खत्म उसकी सफ़लता पर। असफ़लता की आदत से ग्रसित ईशान को उसके नये शिक्षक निकुंभ उसे सफ़लता का सही और सार्थक अर्थ बताते हैं। फ़िल्म में एक ऐसे बच्चे को केंद्र में रखा गया है जो डिस्लेक्सिया (Dyslexia) से पीड़ित है।

फ़िल्म वर्तमान जीवन की दौड़-भाग की ज़िंदगी पर आधारित है, जिसकी रफ़्तार में ईशान अवस्थी की काबलियत कहीं पीछे छूट जाती है। फ़िल्म में कई प्रकार की विकलांगता, जैसे – डिस्लेक्सिया, मानसिक मन्दता और अस्थि विकलांगता (Ortho-paedical disability) को दिखाया गया है। राजन दामोदरन, जो कि पैर से विकलांग है, विकलांगता को अपनी कामयाबी में बाधा नहीं बनने देता और इस प्रकार वो क्लास का टॉपर बना रहता है। ईशान की ज़िंदगी में आशा की किरण के रूप में रामशंकर निकुंभ (आमीर खान) एक अस्थायी कला अध्यापक के रूप में आते हैं । निकुंभ ईशान के अतीत के कामों की समीक्षा करते हैं और निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईशान की विफ़लताओं का मुख्य कारण उसकी पढ़ाई के प्रति अरुचि नहीं, बल्कि डिस्लेक्सिया (Dyslexia) है। इस प्रकार निकुंभ विशेषज्ञों द्वारा (Dyslexia) क्षेत्र में विकसित उपचारात्मक तकनीकों का उपयोग कर उसकी कमियों को दूर करने का प्रयास करते हैं। आमिर खान द्वारा निर्देशित *तारे ज़मीन पर* में ईशान के माध्यम से अधिगम अक्षमता जैसे विषय को उठाया गया है।

ईशान शिक्षक व परिवार में पिता द्वारा मूर्ख शिरोमणि, शेमलेस ब्याय, तुम ठीक से लिख नहीं सकते ... ब्लडी, इडीयट, डफ़र ...उपमाओं से सुशोभित किया जाता है, क्योंकि सबका मानना है कि उसे कुछ नहीं आता और वो कुछ पढ़ना भी नहीं चाहता। कुछ नहीं आता महत्वपूर्ण नहीं है, क्या नहीं आता और क्यों नहीं आता यह महत्वपूर्ण है। वो पढ़ना नहीं चाहता, पर क्यों का जवाब नहीं है किसी के पास। इन प्रश्नों का जवाब बन के आते हैं – शिक्षक निकुंभ

निकुंभ, ईशान का मूल्यांकन कर डिस्लेक्सिया से पीड़ित व्यक्तियों की एक सूची कक्षा में प्रदान करते हैं – अलबर्ट आइंस्टीन, लियोनार्डो द विंसी, वॉल्ट डिज्नी, अगाथा क्रिस्टी, थॉमस एल्वा एडीसन, पबलो पिकासो, अभिनेता अभिषक बच्चन और स्वयं को भी उसी श्रेणी में स्थापित कर ईशान को यह बताने का प्रयास करते हैं कि वो अकेला नहीं है जिसके साथ ऐसी समस्या है। परिवार का हर सदस्य ईशान से प्यार करता है, परंतु अपनी मजबूरियों की परिधि में उसकी समस्या को समझ नहीं पाता।

फ़िल्म में शिक्षकों द्वारा यह कहना कि मानसिक रूप से पिछड़े बच्चों (MR) को जैसा चाहे वैसा पढ़ाओ; क्या फ़र्क पड़ता है; भविष्य तो बनना नहीं है उन बच्चों का, शिक्षको की संवेदनहीनता को व्याख्यायित करता है। माना कि (MR) बालक समाज के लिए उस हद तक उपयोगी नहीं हो सकते परंतु जितना हो सकते हैं शिक्षा के द्वारा उतना तो बनाया जा सकता है।

परिपाटी से हटकर बहुत कम लोग ही सोचते हैं और ईशान का संबंध उन विरल लोगों से ही है। ईशान चित्रों और रंगों की दुनिया में कलाकारियाँ करता है और उसकी इस प्रतिभा को निकुंभ सर द्वारा निखारा जाता है। जब ईशान के माता-पिता स्कूल के अंतिम दिन अध्यापकों से मिलते हैं तो पाते हैं कि ईशान के सारे विषयों में सुधार हुआ है। छुट्टियों में घर जाने से पहले ईशान अपने शिक्षक से गले लगने के लिए दौड़ता है। निकुंभ द्वारा ईशान को हवा में उछाल दिया जाता है और वो आकाश की ओर हाथ फ़ैलाकर मानो कहता है – अब सारा आकाश हमारा है।

फ़िल्म के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि जिज्ञासा का जन्म, जन्म के साथ होता है। हर बच्चे में अपनी चाहत, काबलियत, खूबी होती है, ज़रूरत है उस खूबी को निखारने की। इस प्रकार के सकारात्मक सहयोग द्वारा हम आसानी से समाज की मुख्य धारा में ईशान जैसे बालकों का समायोजन कर उनकी प्रतिभा को नयी ऊचाइयाँ दे सकते हैं। फ़िल्म की खूबी है कि यह डिस्लेक्सिया से पीड़ित बच्चे की समस्याओं को ही नहीं उठाती, बल्कि उसका उचित उपचार भी प्रस्तुत करती है।

आर. बाल्की द्वारा निर्देशित *पा* का नायक ऑरो प्रोज़ेरिया से पीड़ित है जो करोड़ों में एक को होता है। इस प्रकार के बच्चे 13-14 साल से ज़्यादा जी नहीं पाते। ऑरो जो एक प्रतिभाशाली लड़का है और जिसे यह भी मालूम है कि उसकी ज़िंदगी के कुछ दिन ही बचे है, परंतु उसकी जिजीविषा बनी है। वो खुश रहता है और खुश रहने के लिए कारण खोजता रहता है।

माँ का ऑरो के प्रति सकारात्मक व्यवहार है क्योंकि वो अपने बेटे को विकलांग नहीं lucky boy

मानती हैं और सिद्ध करती हैं। कक्षा में ऑरो की विकलांगता के प्रति अतिरिक्त सहानुभूति दिखाई देती है, परिवार में नानी, माँ और उसके पिता अमोल आर्ते द्वारा भी अतिरिक्त सहानुभूति ही फ़िल्म को वास्तविकता की डोर से अलग कर देती है। जगह-जगह पर अतिरिक्त संवेदना को देखा जा सकता है। इसीलिए 21वीं शताब्दी के पहले-दूसरे दशक की सोच से भी आगे की फ़िल्म है–*पा*।

फ़िल्म की विशेषता है कि विकलांगता को उसके माँ और पिता द्वारा सहर्ष स्वीकार किया गया है जो इस फ़िल्म को अन्य फ़िल्मों की श्रेणी से अलग करती है। आज विकलांगता के संदर्भ में पहली समस्या तो यही है कि हमें विकलांगता को सबसे पहले स्वीकार करना चाहिए तत्पश्चात् उसका उपचार कर निदान करना चाहिए। फ़िल्म में अमिताभ बच्चन ने अपने अभिनय की कला से ऑरो जैसे पात्र को जीवन्तता प्रदान की।

अनुराग बसु द्वारा निर्देशित *बर्फ़ी* फ़िल्म के पात्र आधे-अधूरे होते हुए भी अपनी पूर्णता की अभिव्यक्ति करते हैं। फ़िल्म में किसी प्रकार की हमदर्दी या दया उपजाने की कोशिश नहीं की गई जो सामान्य लोगों के विकलांगता से ग्रस्त दृष्टिकोण के लिए सार्थक पहल है।

इस फ़िल्म में 1972–1978 और वर्तमान समय को साथ-साथ दिखाया गया है। सभी दौर की कहानियाँ साथ-साथ चलती हैं, जिसे कई लोग सुनाते रहते हैं। अधिकांशत: फ़िल्म फ़्लैशबैक पर आधारित है जो वर्तमान से टकराती है, इस वजह से फ़िल्म देखते समय दिल के साथ-साथ दिमाग को भी लगाना पड़ता है। भिन्न-भिन्न विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति भी सफ़लतापूर्वक जीवन का निर्वहन कर सकते हैं। फ़िल्म इस मिथक को भी तोड़ती है कि विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों का जीवन संघर्षमय होता है। फ़िल्म में श्रवण-हीनता (HI) और स्वलीनता को दिखाया गया है।

फ़िल्म की मुख्य भूमिका में बर्फ़ी/मर्फ़ी (रणबीर कपूर), झिलमिल चटर्जी (प्रियंका चोपड़ा) और श्रुती घोष (इलेना डिक्रूज़) का जीवंत अभिनय है। बर्फ़ी जानसन एक आशावादी युवक है जो मूक-बधिर बालक के रूप में जन्म लेता है, लेकिन वो अपनी शरारतों और दरियादिली में सामान्य लोगों से आगे है। बर्फ़ी न बेचारा है और न ही दया के अधीन। वो सिर्फ़ सुन बोल नहीं सकता। वो मानसिक रूप से विकलांग नहीं है, वो हर बात को समझ सकता है। विकलांगता उसके काम में आड़े नहीं आती, वो अपने सारे काम स्वयं करता है। इस प्रकार से फ़िल्म के माध्यम से सामान्य लोगों में विकलांग व्यक्तियों के प्रति दृष्टिकोण को बदलने का सार्थक प्रयास दर्शनीय है।

पा और *बर्फ़ी* फ़िल्म में कहीं भी विकलांग व्यक्तियों के प्रति दया जैसे भाव को उत्पन्न हो जाने का निर्देशक ने मौका ही नहीं दिया। फ़िल्म यर्थाथ रूप से हमारे सम्मुख सब कुछ बयाँ कर देती है। फ़िल्म के द्वारा यह बताया गया है कि शारीरिक विकलांगता से पीड़ित व्यक्ति सिर्फ़ शरीर से विकलांग होते हैं, न कि दिमाग से। *बर्फ़ी* का नायक कुछ न बोलते-सुनते हुए भी सब कुछ बोलता सुनता-सा महसूस होता है।

विकलांगता के प्रति समाज में स्वस्थ संदेश देने के लिए अनेक माध्यमों में साहित्य और फ़िल्में

मुख्य भूमिका निभाती हैं। यह जानना प्रासंगिक है कि फ़िल्मों में विकलांग पात्रों को किस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है, सामाजिक संदर्भों को कैसे प्रस्तुत किया गया है, विकलांगता के संदर्भ में यह बात और भी ज़्यादा प्रासंगिक हो जाती है क्योंकि हमारे समाज में फ़िल्में सक्रिय भूमिका का निर्वहन करती हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि इन बालकों में असमानता के बावजूद भी इनमें ऐसी असीम संभावनाएं छिपी हुईं हैं, जिनका समुचित विकास किया जाए तो ये भी सामान्य कहे जाने वाले व्यक्तियों की भाँति समाज और राष्ट्र के उत्थान में अपना सकारात्मक योगदान कर सकते हैं।

विकलांगता को बैसाखियों से जोड़कर देखने संबंधी पूर्वाग्रह को तोड़ने का प्रयास चलचित्र द्वारा दिखाई देता है। संचार एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम ज्ञान के प्रसार को व्यापक ढंग से सभी लोगों तक पहुँचा सकते हैं। 21वीं शताब्दी में विकलांगता पर आधारित फ़िल्मों के माध्यम से विकलांगता के प्रति समाज को सार्थक संदेश दिया जा रहा है जो कि विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों और समाज दोनों के लिए लाभप्रद है, जिसे निम्न बिंदुओं के आधार पर बताया जा सकता है–

- इन फ़िल्मों के माध्यम से दिखाया गया है कि अगर विकलांगों की बुनियादी ज़रूरतों को सार्थक ढंग से पूरा किया जा सके तो विकलांगता उन पर प्रभावी नहीं हो सकती। विकलांगों को सिर्फ़ शिक्षा के माध्यम से ही समाज की मुख्य धारा में समन्वित कर सकते हैं। इसका दूसरा विकल्प नहीं हैं और अगर हम किसी दूसरे विकल्प की तलाश करते हैं तो वो दया की दृष्टि के अंतर्गत आएगा, जो विचारहीन है।
- गाँधी जी ने कहा था कि शिक्षा वही है जो हमें रोज़गार प्रदान कर सके, जो हमें रोज़गार प्रदान न कर सके वो शिक्षा व्यर्थ है। इसी कारण गाँधी जी ने शिक्षा को रोज़गार से जोड़ा। 21वीं शताब्दी में विकलांगता पर आधारित फ़िल्मों में इसे अपनाया गया है। इन फ़िल्मों के माध्यम से एक बात और सामने आती है वो है कि विकलांगता के लिए हर प्रयास सरकार के भरोसे नहीं करने चाहिएँ। हम सरकारी सहायता की आस लगाकर हाथों में हाथ धरकर नहीं बैठ सकते क्योंकि हमारी भी समाज के प्रति ज़िम्मेदारी है। अगर हर बात पर हम सरकार की ओर लाचार दृष्टि से देखते रहे और विकलांगों के लिए कुछ न कर सके तो यह उपयुक्त नहीं होगा।
- इन फ़िल्मों के माध्यम से यह भी बताया गया है कि मानसिक मंदित (MR) बच्चों, श्रवणबाधित (HI), दृष्टिबाधित (VI), locomotor disability, multiple disability, learning disability या other disability को शिक्षा के माध्यम से दूर कर समाज में समायोजित किया जा सकता है और इस प्रक्रिया में हमारा सहयोग उनके प्रयास को तीव्र गति प्रदान कर सकता है। आज फ़िल्मों के द्वारा विकलांग पात्रों को दया जैसी संकुचित परिधि से पूर्णरूपेण अलग कर दिया गया है क्योंकि दया एक ऐसा दीमक है जो व्यक्ति के आत्मविश्वास को खोखला कर देती है और विकलांगों के अंदर बेचारगी पैदा करती है। इस प्रकार वे हीनता की भावना से

ग्रस्त होकर समाज को अपनी योग्यतानुसार लाभ प्रदान नहीं कर पाते।

इक्कसवीं शताब्दी में विकलांगता पर आधारित फ़िल्मों की मूल समस्या उनके उचित शिक्षण के आधार पर सफ़लतापूर्वक समायोजन की ही है जिससे समाज और विकलांग व्यक्तियों, दोनों को ही एक-दूसरे का सार्थक सहयोग मिल सके।

विकलांगता पर आधारित फ़िल्म जगत के दृष्टिकोण को देखा जाए तो विकलांगता जैसे मुद्दे पर फ़िल्म जगत का ध्यान काफ़ी बाद में गया, पर हमें निराश होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि जो बीत गया सो बीत गया और अब हमें देर आए दुरस्त आए जैसी कहावत को चरितार्थ करने की आवश्यकता है। सिनेमा के द्वारा हम किसी भी संदेश को सामान्य जनता तक स्पष्ट व प्रभावशाली ढंग से स्थानांतरित कर सकते हैं। हमारे लिए यह बात प्रासंगिक है क्योंकि सार्वजनिक जीवन में फ़िल्में प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन करती हैं।